॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः
(पन्द्रहवाँ अध्याय)

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—

ऊर्ध्वमूलम्	=ऊपरकी ओर मूलवाले (तथा)	**अव्ययम्**	=(प्रवाहरूपसे) अव्यय	**तम्**	=उस संसार-वृक्षको
अधःशाखम्	=नीचेकी ओर शाखावाले	**प्राहुः**	=कहते हैं (और)	**यः**	=जो
अश्वत्थम्	=(जिस) संसाररूप अश्वत्थ-वृक्षको	**छन्दांसि**	=वेद	**वेद**	=जानता है,
		यस्य	=जिसके	**सः**	=वह
		पर्णानि	=पत्ते हैं,	**वेदवित्**	=सम्पूर्ण वेदोंको जाननेवाला है।

विशेष भाव—जगत्, जीव और परमात्मा—तीनों वासुदेवरूप ही हैं—'**वासुदेवः सर्वम्।**' इसीका यहाँ वृक्षरूपसे वर्णन किया गया है।

परिवर्तनशील होनेपर भी संसारको 'अव्यय' कहनेका तात्पर्य है कि संसारमें निरन्तर परिवर्तन होनेपर भी कुछ व्यय (खर्चा) नहीं होता अर्थात् अन्त नहीं होता। जैसे समुद्रके ऊपर कितनी लहरें उठती दीखती हैं, ज्वार-भाटा आता है, पर उसका जल उतना ही रहता है, घटता-बढ़ता नहीं। ऐसे ही निरन्तर परिवर्तन दीखनेपर भी संसार अव्यय ही रहता है। कारण कि परिवर्तनरूप संसार भी परमात्माकी शक्ति 'अपरा प्रकृति' का कार्य होनेसे परमात्माका ही स्वरूप है—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९)। परिवर्तनरूप अपरा प्रकृति भी परमात्माका स्वरूप है और अपरिवर्तनरूप परा प्रकृति भी परमात्माका स्वरूप है। यह संसार उस परमात्माकी ही लहरें हैं। जैसे ऊपरसे लहरें दीखनेपर भी समुद्रके भीतर कोई लहर नहीं है, एक सम, शान्त समुद्र है, ऐसे ही ऊपरसे परिवर्तनशील संसार दीखते हुए भी भीतरसे एक सम, शान्त परमात्मा है! (गीता १३। २७) तात्पर्य है कि संसार संसाररूपसे अव्यय नहीं है, प्रत्युत भगवद्रूपसे अव्यय है। संसाररूपसे भगवान्‌की ही झलक दीखती है। साधककी दृष्टि उस झलककी ओर न होकर भगवान्‌की ओर ही होनी चाहिये। झलककी ओर दृष्टि होना अर्थात् उसीको स्वतन्त्र सत्ता और महत्ता देकर उसके साथ सम्बन्ध जोड़ना ही बन्धन है।

संसारको 'अव्यय' कहनेका एक आशय यह भी है कि जो इस संसारके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ेगा, उसका वह सम्बन्ध अर्थात् जन्म-मरण भी अव्यय हो जायगा, कभी मिटेगा नहीं, उसका कभी अन्त आयेगा नहीं। लम्बे रास्तेका तो अन्त आ सकता है, पर गोल रास्तेका अन्त कैसे आये? कोल्हूके बैलकी तरह जन्मनेके बाद मरना और मरनेके बाद जन्मना—यह गोल रास्ता है।

संसार 'अव्यय' है; क्योंकि संसारका बीज भी 'अव्यय' है—'**बीजमव्ययम्**' (गीता ९। १८)।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥ २॥

तस्य	=उस संसार-वृक्षकी	**शाखाः**	=शाखाएँ	**कर्मानुबन्धीनि**	= कर्मोंके अनुसार बाँधनेवाले
गुणप्रवृद्धाः	=गुणों (सत्त्व, रज और तम) के द्वारा बढ़ी हुई (तथा)	**अधः**	=नीचे,	**मूलानि**	=मूल (भी)
विषयप्रवालाः	= विषयरूप कोंपलोंवाली	**च**	=(मध्यमें) और	**अधः**	=नीचे
		ऊर्ध्वम्	=ऊपर (सब जगह)	**च**	=और (ऊपर)
		प्रसृताः	=फैली हुई हैं।	**अनुसन्ततानि**	= (सभी लोकोंमें) व्याप्त हो रहे हैं।
		मनुष्यलोके	=मनुष्यलोकमें		

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥ ३॥

अस्य	=इस संसार-वृक्षका (जैसा)	**न**	=न तो	**सुविरूढमूलम्**	= दृढ़ मूलोंवाले
रूपम्	=रूप (देखनेमें आता है),	**आदिः**	=आदि है,	**अश्वत्थम्**	=संसाररूप अश्वत्थ-वृक्षको
तथा	=वैसा	**न**	=न	**दृढेन**	=दृढ़
इह	=यहाँ (विचार करनेपर)	**अन्तः**	=अन्त है	**असङ्गशस्त्रेण**	=असंगतारूप शस्त्रके द्वारा
न, उपलभ्यते	= मिलता नहीं; (क्योंकि इसका)	**च**	=और		
		न	=न		
		सम्प्रतिष्ठा	=स्थिति ही है।		
		च	=इसलिये		
		एनम्	=इस	**छित्त्वा**	=काटकर—

विशेष भाव—भगवान्‌ने अपने विषयमें कहा है—'**अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च**' (गीता १०। २०), '**सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन**' (गीता १०। ३२) और यहाँ संसारके विषयमें कहते हैं—'**नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।**' तात्पर्य है कि भगवान् आदिमें भी हैं, अन्तमें भी हैं और मध्यमें भी हैं; परन्तु संसार न आदिमें है, न अन्तमें है और न मध्यमें ही है अर्थात् संसार है ही नहीं—'**नासतो विद्यते भावः**' (गीता २। १६)। अतः एक भगवान्‌के सिवाय कुछ भी नहीं है।

'**असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा**'—इन पदोंमें आये '**छित्त्वा**' शब्दका अर्थ काटना अथवा नाश (अभाव) करना नहीं है, प्रत्युत सम्बन्ध-विच्छेद करना है। कारण कि यह संसार-वृक्ष भगवान्‌की अपरा प्रकृति होनेसे अव्यय है। स्वरूप असंग है—'**असङ्गो ह्ययं पुरुषः**' (बृहदा० ४। ३। १५)। स्वरूपमें गुणसंग नहीं है। गुणसंगसे ही जन्म-मरण होता है—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)। अतः स्वरूपकी असंगताका, निर्लिप्तताका, अजरता-अमरताका अनुभव करके उसमें स्थित होना ही संसार-वृक्षका छेदन करना है।

संसार रागके कारण ही दीखता है। जिस वस्तुमें राग होता है, उसी वस्तुकी सत्ता और महत्ता दीखती है। अगर राग न रहे तो संसारकी सत्ता दीखते हुए भी महत्ता नहीं रहती। अतः '**असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा**' पदोंका तात्पर्य है—संसारके रागको सर्वथा मिटा देना अर्थात् अपने अन्तःकरणमें परमात्माके सिवाय अन्य किसीसे

सम्बन्ध न मानना, सृष्टिमात्रकी किसी भी वस्तुको अपनी और अपने लिये न मानना। वास्तवमें संसारकी सत्ता बन्धनकारक नहीं है, प्रत्युत उससे रागपूर्वक माना हुआ सम्बन्ध ही बन्धनकारक है। सत्ता बाधक नहीं है, राग बाधक है। इसलिये अन्य दार्शनिक तो संसारको असत्, सत् आदि अनेक प्रकारसे कहते हैं, पर भगवान् संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेकी बात कहते हैं। सम्बन्ध-विच्छेद करनेसे संसारका संसाररूपसे अभाव हो जाता है और वह भगवद्रूपसे दीखने लगता है—'**वासुदेवः सर्वम्**'।

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥ ४॥

ततः	=उसके बाद	**भूयः**	=फिर	**प्रसृता**	=विस्तारको प्राप्त हुई है,
तत्	=उस	**न, निवर्तन्ति**	=लौटकर संसारमें नहीं आते	**तम्**	=उस
पदम्	=परमपद (परमात्मा) की	**च**	=और	**आद्यम्**	=आदि
परिमार्गितव्यम्	=खोज करनी चाहिये।	**यतः**	=जिससे	**पुरुषम्**	=पुरुष परमात्माके
यस्मिन्	=जिसको	**पुराणी**	=अनादिकालसे चली आनेवाली	**एव**	=ही
गताः	=प्राप्त हुए मनुष्य	**प्रवृत्तिः**	=(यह) सृष्टि	**प्रपद्ये**	=मैं शरण हूँ।

विशेष भाव—संसार नित्यनिवृत्त है, इसलिये उसका त्याग होता है—'**असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा**' और परमात्मा नित्यप्राप्त हैं, इसलिये उनकी खोज होती है—'**ततः पदं तत्परिमार्गितव्यम्**'। निर्माण और खोज—दोनोंमें बहुत अन्तर है। निर्माण उस वस्तुका होता है, जिसका पहलेसे अभाव होता है और खोज उस वस्तुकी होती है, जो पहलेसे ही विद्यमान होती है। परमात्मा नित्यप्राप्त और स्वतःसिद्ध हैं, इसलिये उनकी खोज होती है, निर्माण नहीं होता। जब साधक परमात्माकी सत्ताको स्वीकार करता है, तब खोज होती है। खोज करनेके दो प्रकार हैं—एक तो कण्ठी कहीं रखकर भूल जायँ तो हम जगह-जगह उसकी खोज करते हैं और दूसरा, कण्ठी गलेमें ही हो, पर वहम हो जाय कि कण्ठी खो गयी तो हम जगह-जगह उसकी खोज करते हैं। परमात्माकी खोज गलेमें पड़ी कण्ठीकी खोजके समान है। वास्तवमें परमात्मा खोया नहीं है। संसारमें अपने रागके कारण परमात्माकी तरफ दृष्टि नहीं जाती। उधर दृष्टि न जाना ही उसका खोना है। तात्पर्य है कि जिस परमात्माको हम चाहते हैं और जिसकी हम खोज करते हैं, वह परमात्मा नित्य-निरन्तर अपनेमें ही मौजूद है! परन्तु संसार अपनेमें नहीं है। जो अपनेमें है, उसकी खोज करनेसे परिणाममें वह मिल जाता है। परन्तु जो अपनेमें नहीं है, उसकी खोज करनेसे परिणाममें वह मिलता नहीं; क्योंकि वास्तवमें उसकी सत्ता ही नहीं है।

परमात्मा कभी अप्राप्त हुए ही नहीं, अप्राप्त हैं ही नहीं, अप्राप्त होना सम्भव ही नहीं। उनकी अप्राप्ति नहीं हुई है, प्रत्युत विस्मृति हुई है। यह विस्मृति अनादि और सान्त (अन्त होनेवाली) है। जैसे दो व्यक्ति आपसमें एक-दूसरेको पहचानते नहीं तो यह अपरिचय कबसे है—इसको कोई बता नहीं सकता। हम संस्कृत भाषाको नहीं जानते तो यह अनजानपना कबसे है—इसको हम बता नहीं सकते। तात्पर्य है कि व्यक्तियोंकी सत्ता, हमारी सत्ता, संस्कृत भाषाकी सत्ता तो पहलेसे ही है, पर उनका परिचय पहलेसे नहीं है। ऐसे ही विस्मृतिके समय भी परमात्माकी सत्ता ज्यों-की-त्यों है। परमात्मा तो नित्यप्राप्त हैं, पर उनकी विस्मृति है अर्थात् उधर दृष्टि नहीं है, उनसे विमुखता है, उनसे अपरिचय है, उनकी अप्राप्तिका वहम है! परमात्माकी खोज करनेपर यह विस्मृति मिट जाती है और उनकी प्राप्ति हो जाती है। परमात्माकी खोज करनेका उपाय है—जो मौजूद नहीं है, उसको छोड़ते

जाना— **'असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा।'** छोड़नेका तात्पर्य है—उसकी सत्ता और महत्ता न मानकर उससे सम्बन्ध न जोड़ना, उसको अस्वीकार करना। अत: संसारके त्यागमें ही परमात्माकी खोज निहित है। श्रीमद्भागवतमें आया है—**'अतत्त्यजन्तो मृगयन्ति सन्त:'** (१०। १४। २८)।

'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये'—संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर भावरूप स्वरूपमें स्थिति हो जाती है और साधक मुक्त हो जाता है। मुक्त होनेपर संसारकी कामना तो मिट जाती है, पर प्रेमकी भूख नहीं मिटती। ब्रह्मसूत्रमें आया है—**'मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्'** (१। ३। २) 'उस प्रेमस्वरूप भगवान्‌को मुक्त पुरुषोंके लिये भी प्राप्तव्य बताया गया है।' तात्पर्य है कि स्वरूप जिसका अंश है, उस अंशी (परमात्मा) के प्रेमकी प्राप्तिमें ही मानव-जीवनकी पूर्णता है। स्वरूपमें निजानन्द (अखण्ड आनन्द) है और अंशीमें परमानन्द (अनन्त आनन्द) है। जो मुक्तिमें नहीं अटकता, उसमें सन्तोष नहीं करता, उसको प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमकी प्राप्ति होती है—**'मद्भक्तिं लभते पराम्'** (गीता १८। ५४)। इसीलिये भगवान्‌ने संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करने अर्थात् मुक्त होनेके बाद परमात्माकी खोज करके उनकी शरण ग्रहण करनेकी बात कही है।

~~~

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥ ५॥

निर्मानमोहाः	=जो मान और मोहसे रहित हो गये हैं,	**विनिवृत्तकामाः**	=जो (अपनी दृष्टिसे) सम्पूर्ण कामनाओंसे रहित हो गये हैं,	**अमूढाः**	=(ऊँची स्थितिवाले) मोहरहित साधक भक्त
जितसङ्गदोषाः	= जिन्होंने आसक्तिसे होनेवाले दोषोंको जीत लिया है,	**सुखदुःखसञ्ज्ञैः**	= जो सुख-दुःख नामवाले	**तत्**	=उस
				अव्ययम्	=अविनाशी
अध्यात्मनित्याः	= जो नित्य-निरन्तर परमात्मामें ही लगे हुए हैं,	**द्वन्द्वैः**	=द्वन्द्वोंसे	**पदम्**	=परमपद (परमात्मा) को
		विमुक्ताः	=मुक्त हो गये हैं, (ऐसे)	**गच्छन्ति**	=प्राप्त होते हैं।

विशेष भाव—ज्ञानयोग और कर्मयोगके अन्तर्गत भक्ति नहीं आती, पर भक्तिके अन्तर्गत ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों आ जाते हैं (गीता १०। १०-११)। इसलिये यहाँ **'अध्यात्मनित्याः'** पदसे ज्ञानयोग और **'विनिवृत्तकामाः'** पदसे कर्मयोग ले सकते हैं।

~~~

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ ६॥

तत्	=उस (परमपद) को	**पावकः**	=अग्नि ही	**न, निवर्तन्ते**	=लौटकर (संसारमें) नहीं आते,
न	=न	**भासयते**	=प्रकाशित कर सकती है (और)		
सूर्यः	=सूर्य,			**तत्**	=वही
न	=न	**यत्**	=जिसको	**मम**	=मेरा
शशाङ्कः	=चन्द्र (और)	**गत्वा**	=प्राप्त होकर (जीव)	**परमम्**	=परम
न	=न			**धाम**	=धाम है।

विशेष भाव—हम भगवान्‌के अंश हैं—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५। ७)। इसलिये भगवान्‌का जो धाम है, वही हमारा धाम है। इसी कारण उस धामकी प्राप्ति होनेपर फिर लौटकर संसारमें नहीं आना पड़ता। जबतक हम अपने उस धाममें नहीं जायँगे, तबतक हम मुसाफिरकी तरह अनेक योनियोंमें और अनेक लोकोंमें घूमते ही रहेंगे, कहीं भी ठहर नहीं सकेंगे। अगर हम ऊँचे-से-ऊँचे ब्रह्मलोकमें भी चले जायँ तो वहाँसे भी लौटकर आना पड़ेगा— **'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन'** (गीता ८। १६)। कारण कि यह सम्पूर्ण संसार (मात्र ब्रह्माण्ड) परदेश है, स्वदेश नहीं। यह पराया घर है, अपना घर नहीं। विभिन्न योनियोंमें और लोकोंमें हमारा घूमना, भटकना तभी बन्द होगा, जब हम अपने असली घरमें पहुँच जायँगे।

परमपदको प्राप्त होकर फिर लौटकर संसारमें न आनेकी बात गीतामें तीन जगह कही गयी है—

१-**यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥** (८। २१)

२-**ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिगता न निवर्तन्ति भूयः।** (१५। ४)

३-**यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥** (१५। ६)

भगवान्‌ने ज्ञानमार्गमें तो अपुनरावृत्तिकी प्राप्ति बतायी है— **'गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः'** (गीता ५। १७), पर भक्तिमार्गमें अपने धामकी प्राप्ति बतायी है—यह भक्तिकी विशेषता है! भगवान्‌के धाममें प्रेमका विशेष आस्वादन होता है।

परमपदको न तो आधिभौतिक प्रकाश (सूर्य, चन्द्र आदि) प्रकाशित कर सकता है और न आधिदैविक प्रकाश (नेत्र, मन, बुद्धि, वाणी आदि) ही प्रकाशित कर सकता है। कारण कि यह स्वयंप्रकाश है। इसमें प्रकाश्य-प्रकाशकका भेद नहीं है।

'गत्वा' में गति है, प्रवृत्ति नहीं; क्योंकि अंशकी अंशीकी ओर गति होती है, प्रवृत्ति नहीं। प्रवृत्ति तो परतः होती है, पर गति स्वतः होती है।

गति और प्रवृत्ति—गति स्वतः-स्वाभाविक होती है और उसमें परिश्रम (प्रयत्न), उद्योग तथा कर्तृत्व नहीं होता। परन्तु प्रवृत्ति अस्वाभाविक और श्रमसाध्य, उद्योगसाध्य तथा कर्तृत्वसहित होती है। प्रवृत्ति तो अहंकारयुक्त होनेपर होती है, पर गति अहंकाररहित होनेपर होती है। इसलिये गति 'स्व' की तरफ होती है और प्रवृत्ति 'पर' की तरफ होती है। गति परमात्माकी तरफ होती है और प्रवृत्ति संसारकी तरफ होती है। गति चिन्मयताकी तरफ होती है और प्रवृत्ति जड़ताकी तरफ होती है। गति असीमकी तरफ ले जाती है और प्रवृत्ति सीमितकी तरफ ले जाती है। गति स्वाधीन करती है और प्रवृत्ति पराधीन करती है। भोग तथा संग्रहका सुख चाहनेपर प्रवृत्ति होती है और दूसरेको सुख देनेपर गति होती है।

गतिका उद्गम-स्थान 'सत्' है और प्रवृत्तिका उद्गम-स्थान 'असत्' है। जैसे, गंगाका उद्गम-स्थान गंगोत्री है। अगर गंगाको रोककर एक ऐसा बाँध बना दिया जाय, जो गंगोत्रीसे भी ऊँचा हो तो गंगाका जल स्वतः अपने उद्गम-स्थान गंगोत्रीकी तरफ जायगा। इस प्रकार गंगाका अपने उद्गम-स्थानकी ओर जाना 'गति' है। अतः गति दो तरहसे होती है—संसार (भोग और संग्रह) की तरफ जाना बन्द करनेसे अर्थात् उससे विमुख होनेसे अथवा अपने उद्देश्य परमात्माकी तरफ जानेसे अर्थात् उनके सम्मुख होनेसे। नित्यप्राप्त परमात्माकी जो अप्राप्ति मानी है, उसका मिटना ही परमात्माकी तरफ गति होना है। गतिमें परमात्मासे मानी हुई दूरी मिटती है और वास्तविक एकता प्रकट होती है।

साधकको ऐसा अनुभव होता है कि कई वर्ष पहले जैसे भाव तथा आचरण थे, वैसे अब नहीं रहे, प्रत्युत पहलेसे अधिक श्रेष्ठ हो गये तो यह साधककी गति हुई है। साधनावस्थामें जो गति होती है, उसमें अहम्‌का सूक्ष्म संस्कार रह सकता है, पर मुक्त होनेके बाद प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमकी तरफ जो गति होती है, उसमें अहम्‌का सूक्ष्म संस्कार भी नहीं रहता अर्थात् अहम्‌का अत्यन्त अभाव हो जाता है। इसका कारण यह है कि जीव परमात्मासे जितना दूर होता है, उतना ही उसमें अहंकार रहता है। स्वरूपमें स्थित होनेपर भी सूक्ष्म अहंकार रहता है, जो मुक्तिमें तो बाधक नहीं होता, पर अन्य दार्शनिकोंसे मतभेद करनेवाला होता है। परमात्मासे अभिन्नता होनेपर अहंकार सर्वथा मिट जाता है।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥ ७॥

जीवलोके	=इस संसारमें	**एव**	=ही	**मनःषष्ठानि**	=मन और पाँचों
जीवभूतः	=जीव बना हुआ आत्मा (स्वयं)	**सनातनः**	=सनातन	**इन्द्रियाणि**	=इन्द्रियोंको
		अंशः	=अंश है; (परन्तु वह)	**कर्षति**	=आकर्षित करता है (अपना मान लेता है)।
मम	=मेरा	**प्रकृतिस्थानि**	= प्रकृतिमें स्थित		

विशेष भाव—यहाँ भगवान्ने जिसको अपना अंश कहा है, उसीको सातवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें अपनी 'परा प्रकृति' कहा है*। इसलिये दोनों ही जगह 'जीवभूत' (जीव बना हुआ) शब्द आया है—**'जीवभूतः'**, **'जीवभूताम्'**। परा और अपरा— दोनों भगवान्की शक्तियाँ हैं (गीता ७। ४-५)। जबसे पराकी दृष्टि भगवान्से हटकर अपराकी तरफ चली गयी, तबसे परा जन्म-मरणके चक्रमें पड़ गयी। इसी बातको सातवें अध्यायमें **'ययेदं धार्यते जगत्'** पदोंसे और यहाँ **'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति'** पदोंसे कहा गया है।

यद्यपि अपरा भी भगवान्की है, तथापि उसका स्वभाव अलग (परिवर्तनशील) है। इसलिये भगवान्ने अपनेको अपरासे अतीत बताया है—**'यस्मात्क्षरमतीतोऽहम्'** (गीता १५। १८)। परन्तु परा और भगवान् एक स्वभाववाले (अपरिवर्तनशील) हैं। इसलिये **'ममैवांशः'** पदमें **'एव'** कहनेका तात्पर्य है कि जीव केवल मेरा (भगवान्का) अंश है, इसमें प्रकृतिका अंश किंचिन्मात्र भी नहीं है। जैसे शरीरमें माता और पिता—दोनोंके अंशका मिश्रण होता है, ऐसे जीवमें मेरा और प्रकृतिके अंशका मिश्रण (संयोग) नहीं है, प्रत्युत यह केवल मेरा अंश है। अतः इसका सम्बन्ध केवल मेरे साथ है, प्रकृतिके साथ नहीं। प्रकृतिके साथ सम्बन्ध तो यह खुद जोड़ता है—**'मनः-षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥'**

अपरा प्रकृति परमात्माकी है, पर जीवने उसको अपना मान लिया और उससे सुख लेने लग गया, तभी वह बन्धनमें पड़ा है। अपनी न होनेके कारण ही न वस्तुएँ ठहरती हैं, न सुख ठहरता है।

स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरके साथ अपना सम्बन्ध मानना ही अनर्थका कारण है। जीव शरीरको अपनी तरफ खींचता है **(कर्षति)** अर्थात् अपना मानता है, पर जो वास्तवमें अपना है, उस परमात्माको अपना मानता ही नहीं। यही जीवकी मूल भूल है।

जीव ब्रह्म (निर्गुण) का अंश नहीं है, प्रत्युत ईश्वर (सगुण) का अंश है—***'ईस्वर अंस जीव अबिनासी'*** (मानस ७। ११७। १)। कारण कि ब्रह्म चिन्मय सत्तामात्र है; अतः उसमें अंश-अंशीभाव हो सकता ही नहीं। जीवकी ब्रह्मसे एकता (साधर्म्य) है अर्थात् अनेक रूपसे जो जीव है, वही एक रूपसे ब्रह्म है। शरीरके साथ सम्बन्ध होनेसे वह जीव है और शरीरके साथ सम्बन्ध न होनेसे वह ब्रह्म है। अतः वास्तवमें जीव और ब्रह्म—दोनों ही समग्र भगवान्के अंश हैं। इसलिये भगवान्ने अपनेको ब्रह्मकी प्रतिष्ठा (आधार) बताया है—**'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्'** (१४। २७) और ब्रह्मको अपने ही समग्र रूपका एक अंग बताया है—**'ते ब्रह्म तद्विदुः……'** (७। २९-३०)।

मन और इन्द्रियाँ जिसके अंश हैं, उसीमें रहते हैं—**'प्रकृतिस्थानि'**। इससे जीवको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि मैं भी जिसका अंश हूँ, उसीमें निरन्तर रहना चाहिये, उसीके साथ सम्बन्ध जोड़ना चाहिये। यह सम्बन्ध स्वयंको ही जोड़ना पड़ेगा, दूसरा नहीं जोड़ेगा। कारण कि स्वयंने ही जगत्से सम्बन्ध जोड़ा है और स्वयं ही परमात्मासे विमुख हुआ है। जगत्के सम्मुख होने (सम्बन्ध जोड़ने) में जगत् कारण नहीं है और परमात्मासे विमुख होनेमें परमात्मा कारण नहीं हैं, प्रत्युत दोनोंमें स्वयं ही कारण है। परमात्माका अंश होनेसे जीव स्वतन्त्र है और इसी स्वतन्त्रताका उसने दुरुपयोग किया है। इसलिये इसका सदुपयोग स्वयंको ही करना पड़ेगा—**'उद्धरेदात्मनात्मानम्'** (गीता ६। ५)।

प्रकृतिके साथ मन और इन्द्रियोंका नित्य और वास्तविक सम्बन्ध है, पर मन और इन्द्रियोंके साथ स्वयं (आत्मा) का अनित्य और माना हुआ सम्बन्ध है। अनित्य सम्बन्ध कभी स्थायी नहीं रहता, प्रत्युत बदलता और मिटता

---

* **अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।**
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ (गीता ७। ५)

'अपरा प्रकृतिसे भिन्न जीवरूप बनी हुई मेरी परा प्रकृतिको जान, जिसके द्वारा यह जगत् धारण किया जाता है।'

रहता है। स्वयंका नित्य सम्बन्ध परमात्माके साथ है, जो कभी बदलता और मिटता नहीं। परन्तु अनित्य सम्बन्धको स्वीकार कर लेनेसे उस नित्य सम्बन्धसे विमुखता हो जाती है, जिससे उसका अनुभव नहीं होता।

'ममैवांशो जीवलोके' पदोंसे यह भाव निकलता है कि हम तो प्रभुको अपना मानते हैं, पर प्रभु हमें अपना जानते हैं! जब जीव भगवान्‌के शरण हो जाता है, तब वह भी प्रभुको अपना जान लेता है—**'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'** (गीता ७। १४)।

जीव भगवान्‌का सनातन अंश है; अतः भगवान्‌के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ना अर्थात् उनको अपना मानना ही इसका वास्तविक पुरुषार्थ है। शरीरसे होनेवाले पुरुषार्थमें तो क्रिया मुख्य है, जो केवल संसारके लिये ही होती है; क्योंकि शरीर संसारका अंश है। परन्तु स्वयंसे होनेवाले पुरुषार्थमें भाव मुख्य है। इसलिये बुराई-रहित होना, असंग होना, भगवान्‌को अपना मानना—ये स्वयंके पुरुषार्थ हैं। बुराई-रहित होनेसे मनुष्य संसारके लिये उपयोगी हो जाता है। शरीर-संसारसे असंग होनेसे अपने लिये उपयोगी हो जाता है। भगवान्‌को अपना माननेसे भगवान्‌के लिये उपयोगी हो जाता है। बुराई-रहित हुए बिना मनुष्य संसारके लिये उपयोगी नहीं हो सकता। शरीर-संसारसे असंग हुए बिना मनुष्य अपने लिये उपयोगी नहीं हो सकता। भगवान्‌के साथ अपनेपनका सम्बन्ध जोड़े बिना मनुष्य भगवान्‌के लिये उपयोगी नहीं हो सकता।

मैं बुराई-रहित हो जाऊँ, मैं असंग हो जाऊँ, मैं भगवत्प्रेमी हो जाऊँ—ऐसी आवश्यकताका अनुभव करना भी पुरुषार्थ है। परन्तु सबसे पहले साधकको यह स्वीकार कर लेना चाहिये कि मैं बुराई-रहित हो सकता हूँ, असंग हो सकता हूँ, प्रेमी हो सकता हूँ। इसके लिये साधकको यह जानना चाहिये कि संसारके नाते भी हम सब एक हैं, आत्माके नाते भी हम सब एक हैं और परमात्माके नाते भी हम सब एक हैं। इसलिये जैसे अपने शरीरके हितका भाव रहता है, ऐसे ही सम्पूर्ण शरीरोंके हितका भाव रहना चाहिये अथवा जैसे सम्पूर्ण शरीरोंसे हम निर्लिप्त रहते हैं, ऐसे ही इस शरीरसे भी निर्लिप्त रहना चाहिये। सम्पूर्ण शरीरोंके साथ अपने शरीरकी एकता मानकर हम बुराई-रहित हो सकते हैं। अपने शरीरसहित सम्पूर्ण शरीरोंको छोड़कर हम असंग (अपने स्वरूपमें स्थित) हो सकते हैं। सम्पूर्ण शरीर-संसारको छोड़कर हम भगवत्प्रेमी हो सकते हैं।

हमारा सम्बन्ध परमात्माके साथ है—**'ममैवांशो जीवलोके'**, इसलिये हम परमात्मामें ही स्थित हैं। परन्तु शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिका सम्बन्ध अपरा प्रकृतिके साथ है, इसलिये वे प्रकृतिमें ही स्थित हैं—**'प्रकृतिस्थानि'। 'विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्'** (गीता १३। १९) शरीरके साथ हमारा मिलन कभी हुआ ही नहीं, है ही नहीं, होगा ही नहीं, हो सकता ही नहीं और परमात्मासे अलग हम कभी हुए ही नहीं, हैं ही नहीं, होंगे ही नहीं, हो सकते ही नहीं। हमारेसे दूर-से-दूर कोई चीज है तो वह शरीर है और नजदीक-से-नजदीक कोई चीज है तो वह परमात्मा है। परन्तु कामना-ममता-तादात्म्यके कारण मनुष्यको उल्टा दीखता है अर्थात् शरीर तो नजदीक दीखता है और परमात्मा दूर! शरीर तो प्राप्त दीखता है और परमात्मा अप्राप्त!

शरीरसे माने हुए सम्बन्धका त्याग करनेके लिये साधकको तीन बातें मान लेनी चाहिये—१-शरीर मेरा नहीं है; क्योंकि इसपर मेरा वश नहीं चलता। २-मेरेको कुछ नहीं चाहिये और ३-मेरेको अपने लिये कुछ नहीं करना है। जबतक साधक स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंसे अपना सम्बन्ध मानता रहता है, तबतक स्थूलशरीरसे होनेवाला 'कर्म', सूक्ष्मशरीरसे होनेवाला 'चिन्तन' और कारणशरीरसे होनेवाली 'स्थिरता' (निर्विकल्प अवस्था)—तीनों ही उसको बाँधनेवाले होते हैं। परन्तु तीनों शरीरोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर वह कर्म, चिन्तन और स्थिरता—तीनोंसे बँधता नहीं अर्थात् तीनोंसे असंग हो जाता है।

भगवान्‌के नित्य-सम्बन्धकी जागृतिके लिये साधकको तीन बातें मान लेनी चाहिये—१-प्रभु मेरे हैं, २-मैं प्रभुका हूँ और ३- सब कुछ प्रभुका है। भगवान्‌से नित्य-सम्बन्धकी जागृति होनेपर साधकको भगवत्प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है। भगवत्प्रेमकी प्राप्तिमें ही मनुष्य-जीवनकी पूर्णता है।

मनुष्यमें तीन इच्छाएँ होती हैं—भोगकी इच्छा, तत्त्वकी इच्छा और प्रेमकी इच्छा। भोगकी इच्छा 'कामना, तत्त्वकी इच्छा 'जिज्ञासा' और प्रेमकी इच्छा 'पिपासा' (अभिलाषा) कहलाती है। भोगकी कामना शरीरको लेकर, तत्त्वकी जिज्ञासा स्वरूपको लेकर और प्रेमकी पिपासा परमात्माको लेकर होती है। शरीरको अपना मानना भूल है; क्योंकि शरीर प्रकृतिका अंश है। अतः शरीरको लेकर होनेवाली भोगकी इच्छा प्राकृत (असत्) होनेसे अपनी नहीं है, प्रत्युत भूलसे है। परन्तु तत्त्वकी और प्रेमकी इच्छा अपनी है, भूलसे नहीं है। इसलिये शरीरको

निष्कामभावपूर्वक परिवारकी, समाजकी और संसारकी सेवामें लगानेसे अथवा तत्त्वकी जिज्ञासा तेज होनेसे भूल मिट जाती है। भूल मिटनेसे भोगकी इच्छा मिट जाती है। भोगकी इच्छा मिटनेसे तत्त्वकी जिज्ञासा पूर्ण हो जाती है और साधकको स्वरूपमें स्वाभाविक स्थितिका अनुभव हो जाता है अर्थात् उसको तत्त्वज्ञान हो जाता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है। फिर स्वरूप जिसका अंश है, उस परमात्माके प्रेमकी पिपासा जाग्रत होती है। मात्र जीव परमात्माके अंश हैं, इसलिये मात्र जीवोंकी अन्तिम इच्छा प्रेमकी ही है। प्रेमकी इच्छा सार्वभौम इच्छा है। प्रेमकी प्राप्ति होनेपर मनुष्यजन्म पूर्ण हो जाता है, फिर कुछ बाकी नहीं रहता।

~~~

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥ ८॥

जैसे—

वायुः	= वायु	**अपि**	= भी	**गृहीत्वा**	= ग्रहण करके
आशयात्	= गन्धके स्थानसे	**यत्**	= जिस	**च**	= फिर
गन्धान्	= गन्धको (ग्रहण करके ले जाती है),	**शरीरम्**	= शरीरको	**यत्**	= जिस (शरीर) को
इव	= ऐसे ही	**उत्क्रामति**	= छोड़ता है, (वहाँसे)	**अवाप्नोति**	= प्राप्त होता है, (उसमें)
ईश्वरः	= शरीरादिका स्वामी बना हुआ जीवात्मा	**एतानि**	= इन (मनसहित इन्द्रियों) को	**संयाति**	= चला जाता है।

विशेष भाव—पूर्वश्लोकमें '**कर्षति**' पद और इस श्लोकमें '**गृहीत्वा**' पद आया है। '**कर्षति**' का अर्थ है—अपनी तरफ खींचना, और '**गृहीत्वा**' का अर्थ है—पकड़ना अर्थात् तादात्म्य करना। वायुका दृष्टान्त देनेका तात्पर्य है कि जीव वायुकी तरह निर्लिप्त रहता है। शरीरसे लिप्त होनेपर भी वास्तवमें इसकी निर्लिप्तता कभी मिटती नहीं—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**' (गीता १३। ३१)। वायुमें गन्ध हरदम नहीं रहती, स्वतः छूट जाती है; परन्तु जीव जबतक मन-बुद्धि-इन्द्रियोंको छोड़ता नहीं, तबतक वे छूटते नहीं। इसका कारण यह है कि मन-बुद्धि-इन्द्रियोंको जीव खुद पकड़ता है—'**गृहीत्वैतानि**'; अतः खुद छोड़नेपर ही वे छूटते हैं।

प्रत्येक भोगसे स्वाभाविक उपरति होती है—यह सबका अनुभव है। भोगोंमें प्रवृत्ति तो कृत्रिम होती है, पर निवृत्ति स्वाभाविक होती है। रुचि तो जीव करता है, पर अरुचि स्वतः होती है। जैसे, तम्बाकू पीनेवाले धुआँ भीतर खींचते हैं, पर वह बाहर स्वतः निकलता है! मुँह बन्द करें तो नाकसे निकल जायगा! धुआँ तो टिकता नहीं, पर आदत बिगड़ जाती है, व्यसन लग जाता है। ऐसे ही भोग तो टिकते नहीं, पर आदत बिगड़ जाती है। भोग तो स्वतः छूटते हैं, उनसे अरुचि स्वतः होती है, पर आदत बिगड़नेसे जीव उनको बार-बार पकड़ता रहता है और 'ईश्वर' अर्थात् स्वतन्त्र होते हुए भी परवशताका अनुभव करता रहता है। भोगोंमें लिप्त होते हुए भी वास्तवमें इसकी निर्लिप्तता मिटती नहीं, पर इसकी तरफ यह ध्यान नहीं देता और इसको महत्त्व नहीं देता। शरीरसे सम्बन्ध न होते हुए भी यह उससे सम्बन्ध मानकर सुख लेता रहता है। सम्बन्ध तो अनित्य होता है, पर सम्बन्ध-विच्छेद नित्य होता है। कारण कि संसारकी जातिका (जड़ तथा परिवर्तनशील) होनेसे शरीर विजातीय है। विजातीय वस्तुसे सम्बन्ध होना सम्भव ही नहीं है। परमात्माका अंश होनेसे जीवकी परमात्माके साथ सजातीयता है। अतः इसका स्वतः सम्बन्ध परमात्माके साथ ही है। अगर जीव सन्तोंकी, भगवान्‌की, शास्त्रोंकी वाणीपर विश्वास करके परमात्मासे सम्बन्ध जोड़ ले तो फिर इसको अनुभव हो जायगा। परन्तु यह पदार्थोंके सम्बन्धको मुख्यता दे देता है। जबतक यह भगवान्‌के साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ता, तबतक भगवान् कोई भी सम्बन्ध टिकने नहीं देते, तोड़ते ही रहते हैं। जीव कितना ही जोर लगा ले, वह संसारका सम्बन्ध स्थायी रख सकता ही नहीं।

~~~

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥ ९॥

अयम्	= यह (जीवात्मा)	**च**	= और	**घ्राणम्**	= घ्राण (—इन पाँचों इन्द्रियोंके द्वारा)
मनः	= मनका	**चक्षुः**	= नेत्र		
अधिष्ठाय	= आश्रय लेकर	**च**	= तथा		
एव	= ही	**स्पर्शनम्**	= त्वचा,	**विषयान्**	= विषयोंका
श्रोत्रम्	= श्रोत्र	**रसनम्**	= रसना	**उपसेवते**	= सेवन करता है।
		च	= और		

विशेष भाव—विषयोंका सेवन करनेसे स्वयंकी गौणता हो जाती है और शरीर-संसारकी मुख्यता हो जाती है। इसलिये स्वयं भी जगत्-रूप हो जाता है*!

~~

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥ १०॥

उत्क्रामन्तम्	= शरीरको छोड़कर जाते हुए	**भुञ्जानम्**	= विषयोंको भोगते हुए	**न**	= नहीं
वा	= या	**अपि**	= भी	**अनुपश्यन्ति**	= जानते,
स्थितम्	= दूसरे शरीरमें स्थित हुए	**गुणान्वितम्**	= गुणोंसे युक्त (जीवात्मा-के स्वरूप) को	**ज्ञानचक्षुषः**	= ज्ञानरूपी नेत्रोंवाले (ज्ञानी मनुष्य ही)
वा	= अथवा	**विमूढाः**	= मूढ़ मनुष्य	**पश्यन्ति**	= जानते हैं।

विशेष भाव—गुणोंके साथ सम्बन्ध माननेसे जीव 'गुणान्वित' हो जाता है। अगर सम्बन्ध न माने तो वह निर्गुण (तीनों गुणोंसे रहित) ही है—'**अनादित्वान्निर्गुणत्वात्**' (गीता १३। ३१)। इसका आशय यह है कि गुणोंके साथ सम्बन्ध होनेसे ही जन्म-मरण होते हैं (गीता १३। २१)। यद्यपि अपनी अवनति कोई नहीं चाहता, तथापि सुखासक्तिके कारण जीवको पता ही नहीं लगता कि मेरी उन्नति किसमें है। वह नाशवान् पदार्थोंके द्वारा अपनी उन्नति करना चाहता है, जिसका परिणाम महान् अवनति होता है।

शरीरको छोड़कर जाना, दूसरे शरीरमें स्थित होना और विषयोंको भोगना—तीनों क्रियाएँ अलग-अलग हैं, पर उनमें रहनेवाला जीवात्मा एक ही है—यह बात प्रत्यक्ष होते हुए भी अविवेकी मनुष्य इसको नहीं जानता अर्थात् अपने अनुभवकी तरफ नहीं देखता, उसको महत्त्व नहीं देता। तीनों गुणोंसे मोहित रहनेके कारण बेहोश रहता है (गीता ७। १३)। जीवात्मा किसी भी अवस्थाके साथ निरन्तर नहीं रहता—यह सबका अनुभव है। इसकी निर्लिप्तता स्वत:सिद्ध है।

भगवान्‌ने पिछले श्लोकमें पाँच क्रियाएँ बतायी हैं—सुनना, देखना, स्पर्श करना, स्वाद लेना तथा सूँघना और इस श्लोकमें तीन क्रियाएँ बतायी हैं—शरीरको छोड़कर जाना, दूसरे शरीरमें स्थित होना तथा विषयोंको भोगना। इन आठोंमें कोई भी क्रिया निरन्तर नहीं रहती, पर स्वयं निरन्तर रहता है। क्रियाएँ तो आठ हैं, पर इन सबमें स्वयं एक ही रहता है। इसलिये इनके भाव और अभावका, आरम्भ और अन्तका ज्ञान सबको होता है। जिसको आरम्भ और अन्तका ज्ञान होता है, वह स्वयं नित्य होता है।

शरीरका, पदार्थोंका, हरेक भोगका संयोग और वियोग होता है। अनेक अवस्थाओंमें स्वयं एक रहता है और एक रहते हुए अनेक अवस्थाओंमें जाता है। अगर स्वयं एक न रहता तो सब अवस्थाओंका अलग-अलग अनुभव कौन करता? परन्तु ऐसी बात प्रत्यक्ष होते हुए भी विमूढ़ मनुष्य इस तरफ नहीं देखते, प्रत्युत ज्ञानरूपी नेत्रोंवाले योगी मनुष्य ही देखते हैं।

~~

* **त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।**
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ (गीता ७। १३)

'इन तीनों गुणरूप भावोंसे मोहित यह सम्पूर्ण जगत् (प्राणिमात्र) इन गुणोंसे अतीत अविनाशी मुझे नहीं जानता।'

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥ ११॥

यतन्तः	=यत्न करनेवाले	**पश्यन्ति**	=अनुभव करते हैं।	**अचेतसः**	=अविवेकी मनुष्य
योगिनः	=योगीलोग	**च**	=परन्तु	**यतन्तः**	=यत्न करनेपर
आत्मनि	=अपने-आपमें	**अकृतात्मानः**	=जिन्होंने अपना अन्तःकरण शुद्ध नहीं किया है, (ऐसे)	**अपि**	=भी
अवस्थितम्	=स्थित			**एनम्**	=इस तत्त्वका
एनम्	=इस परमात्मतत्त्वका			**न, पश्यन्ति**	=अनुभव नहीं करते।

विशेष भाव—सदा न भोग साथ रहता है, न संग्रह साथ रहता है—यह विवेक मनुष्यमें स्वतः है। परन्तु जो मनुष्य शास्त्र पढ़ते हुए, सत्संग करते हुए, साधन करते हुए भी अपने विवेककी तरफ ध्यान नहीं देते, भोग और संग्रहसे अलगावका अनुभव नहीं करते, वे मनुष्य '**अकृतात्मा**' हैं। ऐसे मनुष्योंको अठारहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें '**अकृतबुद्धि**' और '**दुर्मति**' कहा गया है। यद्यपि परमात्मप्राप्ति कठिन नहीं है, तथापि भीतरमें राग, आसक्ति, सुखबुद्धि पड़ी रहनेसे वे साधन करते हुए भी परमात्माको नहीं जानते। कारण कि भोग और संग्रहमें रुचि रखनेवालेका विवेक ठहरता नहीं।

पूर्वश्लोकमें जिनको '**विमूढाः**' कहा है, उनको यहाँ '**अचेतसः**' कहा है, गुणोंसे मोहित होनेके कारण वे न तो विषयोंके विभागको जानते हैं और न स्वयंके विभागको ही जानते हैं अर्थात् भोगोंका संयोग-वियोग अलग है और स्वयं भी अलग है—यह नहीं जानते।

सातवेंसे ग्यारहवें श्लोकतकके इस प्रकरणमें भगवान् यह बताना चाहते हैं कि मेरा अंश जीवात्मा बिलकुल अलग है और जिस सामग्री (शरीरादि पदार्थ और क्रिया) को वह भूलसे अपनी मानता है, वह बिलकुल अलग है—'**प्रकृतिस्थानि**'। सूर्य और अमावस्याकी रात्रिकी तरह दोनोंका विभाग ही अलग-अलग है। उनका परस्पर संयोग होना सम्भव ही नहीं है। जो उपर्युक्त जड़ और चेतन—दोनोंके विभागको सर्वथा अलग-अलग देखता है, वही ज्ञानी और योगी है। परन्तु जो दोनोंको मिला हुआ देखता है, वह अज्ञानी और भोगी है।

~~~

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥ १२॥

आदित्यगतम्	= सूर्यको प्राप्त हुआ	**भासयते**	=प्रकाशित करता है (और)	**अग्नौ**	=अग्निमें है,
यत्	=जो	**यत्**	=जो तेज	**तत्**	=उस
तेजः	=तेज	**चन्द्रमसि**	=चन्द्रमामें है	**तेजः**	=तेजको
अखिलम्	=सम्पूर्ण	**च**	=तथा	**मामकम्**	=मेरा ही
जगत्	=जगत्को	**यत्**	=जो तेज	**विद्धि**	=जान।

विशेष भाव—परमात्मा ही सम्पूर्ण शक्तियोंके मूल हैं। इस विषयमें केनोपनिषद्‌की एक कथा है। एक बार परमात्माने देवताओंके लिये असुरोंपर विजय प्राप्त की। परन्तु इस विजयमें देवताओंने अपनी शक्तिका अभिमान कर लिया। वे समझने लगे हमने ही अपनी शक्तिसे असुरोंपर विजय प्राप्त की है। देवताओंके इस अभिमानको नष्ट करनेके लिये परमात्मा यक्षका रूप धारण करके उनके सामने प्रकट हो गये। यक्षको देखकर देवतालोग आश्चर्यचकित होकर विचार करने लगे कि यह यक्ष कौन है? उसका परिचय जाननेके लिये देवताओंने अग्निदेवको उसके पास भेजा। यक्षके पूछनेपर अग्निदेवने कहा कि मैं 'जातवेदा' नामसे प्रसिद्ध अग्निदेवता हूँ और मैं चाहूँ तो पृथ्वीमें जो कुछ है, उस सबको जलाकर भस्म कर सकता हूँ। तब यक्षने उसके सामने एक तिनका रख दिया और कहा कि तुम इस तिनकेको जला दो। अग्निदेव अपनी पूरी शक्ति लगाकर भी उस तिनकेको नहीं जला सका। वह लज्जित होकर देवताओंके पास लौट आया और बोला कि वह यक्ष कौन है—यह मैं नहीं जान सका। तब देवताओंने वायुदेवको यक्षके पास भेजा। यक्षके पूछनेपर वायुदेवने कहा कि मैं 'मातरिश्वा' नामसे प्रसिद्ध वायुदेवता
~~~

हूँ और मैं चाहूँ तो पृथ्वीमें जो कुछ है, उस सबको उड़ा सकता हूँ। तब यक्षने उसके सामने भी एक तिनका रख दिया और कहा कि तुम इस तिनकेको उड़ा दो। वायुदेव अपनी पूरी शक्ति लगाकर भी उस तिनकेको नहीं उड़ा सका। वह लज्जित होकर देवताओंके पास लौट आया और बोला कि मैं उस यक्षको नहीं जान सका। तब देवताओंने इन्द्रको उस यक्षका परिचय जाननेके लिये भेजा। परन्तु इन्द्रके वहाँ पहुँचते ही यक्ष अन्तर्धान हो गया और उस जगह हिमाचलकुमारी उमादेवी प्रकट हो गयीं। इन्द्रके पूछनेपर उमादेवीने कहा कि स्वयं परमात्मा ही तुमलोगोंका अभिमान दूर करनेके लिये यक्षरूपसे प्रकट हुए थे। तात्पर्य है कि सृष्टिमें जो भी बलवत्ता, विशेषता, विलक्षणता देखनेमें आती है, वह सब परमात्मासे ही आयी हुई है (गीता १०। ४१)।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥ १३॥

अहम्	= मैं	**भूतानि**	= समस्त प्राणियोंको	**भूत्वा**	= होकर
च	= ही	**धारयामि**	= धारण करता हूँ	**सर्वाः**	= समस्त
गाम्	= पृथ्वीमें	**च**	= और (मैं ही)	**औषधीः**	= ओषधियों (वनस्पतियों) को
आविश्य	= प्रविष्ट होकर	**रसात्मकः**	= रसस्वरूप		
ओजसा	= अपनी शक्तिसे	**सोमः**	= चन्द्रमा	**पुष्णामि**	= पुष्ट करता हूँ।

विशेष भाव—पृथ्वी, चन्द्रमा आदि सब भगवान्‌की अपरा प्रकृति है (गीता ७। ४)। अतः इसके धारक, उत्पादक, पालक, संरक्षक, प्रकाशक आदि सब कुछ भगवान् ही हैं। भगवान्‌की शक्ति होनेसे अपरा प्रकृति भगवान्‌से अभिन्न है।

यहाँ 'सोम' शब्द चन्द्रलोकका वाचक है, जो सूर्यसे भी ऊपर है*।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥ १४॥

प्राणिनाम्	= प्राणियोंके	**प्राणापान-समायुक्तः**	= प्राण-अपानसे युक्त	**चतुर्विधम्**	= चार प्रकारके
देहम्	= शरीरमें	**वैश्वानरः**	= वैश्वानर (जठराग्नि)	**अन्नम्**	= अन्नको
आश्रितः	= रहनेवाला	**भूत्वा**	= होकर	**पचामि**	= पचाता हूँ।
अहम्	= मैं				

विशेष भाव—पृथ्वीमें प्रविष्ट होकर सम्पूर्ण प्राणियोंको धारण करना, चन्द्रमा होकर सम्पूर्ण वनस्पतियोंका पोषण करना, फिर उनको खानेवाले प्राणियोंके भीतर जठराग्नि होकर खाये हुए अन्नको पचाना आदि सम्पूर्ण कार्य भगवान्‌की ही शक्तिसे होते हैं। परन्तु मनुष्य उन कार्योंको अपने द्वारा किया जानेवाला मानकर मुफ्तमें ही अभिमान कर लेता है—'**अहं करोमीति वृथाभिमानः**'; जैसे बैलगाड़ीके नीचे छायामें चलनेवाला कुत्ता समझता है कि बैलगाड़ी मैं ही चलाता हूँ!

---

* **न विदुः सोम ते मायां ये च नक्षत्रयोनयः।**
त्वमादित्यपथादूर्ध्वं ज्योतिषां चोपरिस्थितः॥
(पद्मपुराण, सृष्टि० ४१। १२८)

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥ १५॥

अहम्	= मैं	**ज्ञानम्**	= ज्ञान	**एव**	= ही
च	= ही	**च**	= और	**वेद्यः**	= जाननेयोग्य हूँ।
सर्वस्य	= सम्पूर्ण प्राणियोंके	**अपोहनम्**	= अपोहन (संशय आदि दोषोंका नाश) होता है।	**वेदान्तकृत्**	= वेदोंके तत्त्वका निर्णय करनेवाला
हृदि	= हृदयमें			**च**	= और
सन्निविष्टः	= स्थित हूँ			**वेदवित्**	= वेदोंको जाननेवाला
च	= तथा	**सर्वैः**	= सम्पूर्ण	**एव**	= भी
मत्तः	= मुझसे (ही)	**वेदैः**	= वेदोंके द्वारा	**अहम्**	= मैं (ही हूँ)।
स्मृतिः	= स्मृति,	**अहम्**	= मैं		

विशेष बात—इस अध्यायके पहले श्लोकमें भगवान्‌ने जो बात कही थी, उसका उपसंहार इस श्लोकमें करते हैं।

पहलेके तीन श्लोकोंमें भगवान्‌ने प्रभाव और क्रियारूपसे अपनी विभूतियोंका वर्णन किया है, पर प्रस्तुत श्लोकमें स्वयं अपना वर्णन करते हैं। तात्पर्य है कि इस श्लोकमें स्वयं भगवान्‌का वर्णन है, आदित्यगत, चन्द्रगत, अग्निगत अथवा वैश्वानरगत भगवान्‌का वर्णन नहीं। मूलमें एक ही तत्त्व है, केवल वर्णनमें फर्क है।

पहले '**ममैवांशो जीवलोके**' पदोंसे यह सिद्ध हुआ कि भगवान् 'अपने' हैं और यहाँ '**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः**' पदोंसे यह सिद्ध होता है कि भगवान् 'अपनेमें' हैं। भगवान्‌को 'अपना' स्वीकार करनेसे उनमें स्वाभाविक प्रेम होगा और 'अपनेमें' स्वीकार करनेसे उनको पानेके लिये दूसरी जगह जानेकी जरूरत नहीं रहेगी।

'**अपोहनम्**' पदका अर्थ है—'**अपगत ओहनम्**' अर्थात् संशयका निवारण। 'वेदान्त' का अर्थ है—वेदोंका अन्त अर्थात् निष्कर्ष, निचोड़—'**उभयोरपि दृष्टोऽन्तः**' (गीता २। १६)

भगवान् कहते हैं कि वेद अनेक हैं, पर उन सबमें जाननेयोग्य मैं एक ही हूँ और उन सबको जाननेवाला भी मैं ही हूँ। तात्पर्य है कि सब कुछ मैं ही हूँ।

~~~

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ १६॥

लोके	= इस संसारमें	**द्वौ**	= दो प्रकारके	**क्षरः**	= क्षर
क्षरः	= क्षर (नाशवान्)	**एव**	= ही	**च**	= और
च	= और	**पुरुषौ**	= पुरुष हैं।	**कूटस्थः**	= जीवात्मा
अक्षरः	= अक्षर (अविनाशी)—	**सर्वाणि**	= सम्पूर्ण	**अक्षरः**	= अक्षर
इमौ	= ये	**भूतानि**	= प्राणियोंके शरीर	**उच्यते**	= कहा जाता है।

विशेष भाव—पहले छठे श्लोकमें और फिर बारहवेंसे पन्द्रहवें श्लोकतक भगवान्‌ने 'अलौकिक तत्त्व' का वर्णन किया कि स्वतन्त्र सत्ता अलौकिककी ही है, लौकिककी नहीं। लौकिककी सत्ता अलौकिकसे ही है। अलौकिकसे ही लौकिक प्रकाशित होता है। लौकिकमें जो प्रभाव देखनेमें आता है, वह सब अलौकिकका ही है। अब सोलहवें श्लोकमें भगवान् '**लोके**' शब्दसे 'लौकिक तत्त्व' का वर्णन करते हैं।

जगत् (क्षर) तथा जीव (अक्षर)—दोनों 'लौकिक' हैं—'**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च**' और
~~~

भगवान् इन दोनोंसे विलक्षण अर्थात् 'अलौकिक' हैं—**'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः'** (गीता १५। १७)। कर्मयोग और ज्ञानयोग—ये दो योगमार्ग भी 'लौकिक' हैं—**'लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा……'** (गीता ३। ३)। क्षरको लेकर कर्मयोग और अक्षरको लेकर ज्ञानयोग चलता है; परन्तु भक्तियोग 'अलौकिक' है, जो भगवान्‌को लेकर चलता है। सातवें अध्यायमें वर्णित 'अपरा प्रकृति' को यहाँ 'क्षर' नामसे और 'परा प्रकृति' को यहाँ 'अक्षर' नामसे कहा गया है।

~~~

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ १७॥

उत्तमः	= उत्तम	**यः**	= जो	**ईश्वरः**	= ईश्वर
पुरुषः	= पुरुष	**परमात्मा**	= 'परमात्मा'—	**लोकत्रयम्**	= तीनों लोकोंमें
तु	= तो	**इति**	= इस नामसे	**आविश्य**	= प्रविष्ट होकर (सबका)
अन्यः	= अन्य (विलक्षण) ही है,	**उदाहृतः**	= कहा गया है। (वही)	**बिभर्ति**	= भरण-पोषण करता है।
		अव्ययः	= अविनाशी		

विशेष भाव—पुरुषोत्तमको 'अन्य' कहनेका तात्पर्य है कि क्षर और अक्षर तो लौकिक हैं, पर पुरुषोत्तम दोनोंसे विलक्षण अर्थात् अलौकिक हैं। अतः परमात्मा विचारके विषय नहीं हैं, प्रत्युत श्रद्धा-विश्वासके विषय हैं। परमात्माके होनेमें भक्त, सन्त-महात्मा, वेद और शास्त्र ही प्रमाण हैं। 'अन्य' का खुलासा भगवान्‌ने आगेके श्लोकमें किया है।

'यो लोकत्रयमाविश्य……'—इन पदोंमें बारहवेंसे पन्द्रहवें श्लोकतकका भाव आ गया है। मनुष्यका कर्तव्य तो मनुष्यलोकमें है, पर भगवान्‌का कर्तव्य तीनों लोकोंमें है। वास्तवमें भगवान्‌का अपना कोई कर्तव्य नहीं है, फिर भी वे केवल जीवोंके हितके लिये कर्तव्य करते हैं (गीता ३। २२—२४)।

~~~

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥ १८॥

यस्मात्	= कारण कि	**अक्षरात्**	= अक्षरसे	**च**	= और
अहम्	= मैं	**अपि**	= भी	**वेदे**	= वेदमें
क्षरम्	= क्षरसे	**उत्तमः**	= उत्तम हूँ,	**पुरुषोत्तमः**	= 'पुरुषोत्तम' नामसे
अतीतः	= अतीत हूँ	**अतः**	= इसलिये	**प्रथितः**	= प्रसिद्ध
च	= और	**लोके**	= लोकमें	**अस्मि**	= हूँ।

विशेष भाव—अपनी अलौकिकताकी तरफ दृष्टि करानेके लिये यहाँ भगवान्‌ने **'यस्मात्'** पद दिया है।

'अक्षरादपि चोत्तमः'—'अक्षर' शब्द जीवात्माके लिये भी आता है और ब्रह्मके लिये भी—**'अक्षरं ब्रह्म परमम्'** (गीता ८। ३)। यह शब्द सब जगह चेतनका वाचक ही आता है, जड़का वाचक कहीं नहीं आता।

क्षर और अक्षरकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, पर परमात्माकी स्वतन्त्र सत्ता है। क्षर और अक्षर दोनों परमात्मामें ही रहते हैं। परन्तु अक्षर अर्थात् जीव क्षरके साथ सम्बन्ध जोड़कर उसके अधीन हो जाता है—**'ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७। ५)। परमात्मा स्वतः असंग रहते हैं, वे क्षरके अधीन नहीं होते—**'यस्मात्क्षरमतीतोऽहम्'**। इसलिये परमात्मा अक्षर (जीव) से भी उत्तम हैं। अगर जीव जगत्‌के साथ सम्बन्ध न जोड़कर उसके स्वामी परमात्माके साथ सम्बन्ध जोड़े तो वह परमात्मासे अभिन्न (आत्मीय) हो जायगा—**'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'** (गीता ७। १८)।

मुक्तिमें तो अक्षर (स्वरूप) में स्थिति होती है, पर भक्तिमें अक्षरसे भी उत्तम पुरुषोत्तमकी प्राप्ति होती है। स्वरूप अंश है, पुरुषोत्तम अंशी हैं।

~~~
~~~

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ १९॥

भारत	=हे भरतवंशी अर्जुन!	**माम्**	=मुझे	**सर्ववित्**	=सर्वज्ञ
एवम्	=इस प्रकार	**पुरुषोत्तमम्**	=पुरुषोत्तम	**सर्वभावेन**	=सब प्रकारसे
यः	=जो	**जानाति**	=जानता है,	**माम्**	=मेरा ही
असम्मूढः	=मोहरहित मनुष्य	**सः**	=वह	**भजति**	=भजन करता है।

विशेष भाव—‘यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्’—जो भगवान्‌को जानता है, वही वास्तवमें ‘असम्मूढ़’ है*। परन्तु जो भगवान्‌को नहीं जानता, वह ‘मूढ़’ है—**‘अवजानन्ति मां मूढाः’** (गीता ९। ११)।

‘स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत’—क्षर और अक्षर दोनों ही समग्र भगवान्‌के अंग हैं; अतः इनको जाननेवाला मनुष्य सर्ववित् (सर्वज्ञ) नहीं होता। जो क्षरसे अतीत और अक्षरसे उत्तम पुरुषोत्तमको जानता है, वही मनुष्य ‘सर्ववित्’ अर्थात् समग्रको जाननेवाला है। ऐसा सर्ववित् भक्त सब प्रकारसे भगवान्‌में ही लगा रहता है—**‘सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते’** (गीता ६। ३१); क्योंकि उसकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई होता ही नहीं।

गीतामें ‘सर्ववित्’ शब्द केवल भक्तके लिये ही आया है। भक्त समग्रको अर्थात् लौकिक और अलौकिक दोनोंको जानता है, इसलिये वह सर्ववित् होता है। लौकिकके अन्तर्गत अलौकिक नहीं आ सकता, पर अलौकिकके अन्तर्गत लौकिक भी आ जाता है। अतः निर्गुण तत्त्व (अक्षर) को जाननेवाला ब्रह्मज्ञानी सर्ववित् नहीं होता, प्रत्युत समग्र भगवान्‌को जाननेवाला भक्त सर्ववित् होता है।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥ २०॥

अनघ	=हे निष्पाप अर्जुन!	**मया**	=मेरे द्वारा	**बुद्धिमान्**	=ज्ञानवान् (ज्ञातज्ञातव्य)
इति	=इस प्रकार	**उक्तम्**	=कहा गया है।		
इदम्	=यह	**भारत**	=हे भरतवंशी अर्जुन!	**च**	=(तथा प्राप्तप्राप्तव्य) और
गुह्यतमम्	=अत्यन्त गोपनीय	**एतत्**	=इसको	**कृतकृत्यः**	=कृतकृत्य
शास्त्रम्	=शास्त्र	**बुद्ध्वा**	=जानकर (मनुष्य)	**स्यात्**	=हो जाता है।

विशेष भाव—भगवान्‌ने इस अध्यायमें अपने-आपको पुरुषोत्तमरूपसे अर्थात् अलौकिक समग्ररूपसे प्रकट किया है, इसलिये इसको ‘गुह्यतम शास्त्र’ कहा गया है।

मनुष्य कर्मयोगसे कृतकृत्य, ज्ञानयोगसे ज्ञातज्ञातव्य और भक्तियोगसे प्राप्तप्राप्तव्य हो जाता है। मेरेको अपने लिये कुछ नहीं करना है—ऐसा अनुभव होनेसे मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है। शरीर मेरा नहीं है, शरीरपर मेरा अधिकार नहीं है तथा शरीरसे मेरा सम्बन्ध नहीं है—ऐसा अनुभव होनेसे मनुष्य ज्ञातज्ञातव्य हो जाता है। मेरेको कुछ नहीं चाहिये—ऐसा अनुभव होनेसे मनुष्य प्राप्तप्राप्तव्य हो जाता है। इस श्लोकमें आये **‘बुद्धिमान्’** पदमें

---

* **यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।**
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥
(गीता १०। ३)

ज्ञातज्ञातव्य होनेका भाव आया है। पूर्वश्लोकमें '**स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत**' पदोंमें प्राप्तप्राप्तव्य होनेका भाव आया है। प्रस्तुत श्लोकमें आये '**च**' पदसे भी अनुक्त समुच्चय अर्थ—प्राप्तप्राप्तव्य ले सकते हैं। लौकिक क्षर और अक्षर तो प्राप्त हैं; अतः अलौकिक परमात्मा ही प्राप्तव्य हैं। इस श्लोकसे यह भाव निकलता है कि भक्तको ज्ञानयोग और कर्मयोग—दोनोंका फल प्राप्त हो जाता है अर्थात् वह ज्ञातज्ञातव्य और कृतकृत्य भी हो जाता है (गीता ७। २९-३०, १०। १०-११)।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥ १५॥

॥ श्रीहरिः॥

पन्द्रहवें अध्यायका सार

भगवान्‌ने सातवें अध्यायमें अपनी दो प्रकृतियोंका वर्णन किया था—अपरा और परा (७। ४-५)। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार—यह आठ प्रकारके भेदोंवाली 'अपरा प्रकृति' है और जिसने जगत्‌को धारण किया हुआ है, वह जीवरूप बनी हुई 'परा प्रकृति' है। अपरा और परा—दोनों ईश्वरकी प्रकृति अर्थात् स्वभाव हैं। अपरा, परा और ईश्वर—इन तीनोंका विस्तारसे वर्णन भगवान् पन्द्रहवें अध्यायमें करते हैं। पन्द्रहवें अध्यायमें पहले संसार-वृक्षके रूपमें 'अपरा' का वर्णन करते हैं, फिर सातवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक अपने अंश-रूपसे 'परा'का वर्णन करते हैं, फिर बारहवेंसे पन्द्रहवें श्लोकतक अपने प्रभावका वर्णन करते हैं। अन्तमें अपरा, परा और ईश्वर—तीनोंका क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम नामसे वर्णन करके अध्यायका उपसंहार करते हैं।

सातवें अध्यायमें तो भगवान्‌ने अपरा और परा—दोनोंको अपनी प्रकृति अर्थात् अपनेसे अभिन्न बताया है—'**इतीयं मे**' (७। ४), '**मे पराम्**' (७। ५)। परन्तु पन्द्रहवें अध्यायमें अपनेको अपरा (क्षर) से अतीत और परा (अक्षर) से उत्तम बताया है (१५। १८)। इसका तात्पर्य है कि जबतक साधक अपरा (संसार) और परा (स्वयं)—दोनोंकी स्वतन्त्र सत्ता मानता है, तबतक भगवान् अपरासे अतीत और परासे उत्तम हैं। परन्तु जब उसकी मान्यतामें अपरा और पराकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती, तब अपरा, परा और भगवान्—तीनों एक ही होते हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**' (७। १९), '**सदसच्चाहम्**' (९। १९)।

पन्द्रहवें अध्यायके मध्यमें अक्षर (जीवात्मा) के वर्णनका तात्पर्य है कि जीवके एक तरफ क्षर (संसार) है और एक तरफ पुरुषोत्तम (परमात्मा) हैं। जीवका सम्बन्ध परमात्माके साथ है—'**ममैवांशो जीवलोके**'; क्योंकि जैसे परमात्मा चेतन, अविनाशी और अपरिवर्तनशील हैं, ऐसे ही जीव भी चेतन, अविनाशी और अपरिवर्तनशील है। शरीरका सम्बन्ध संसारके साथ है—'**मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि**'; क्योंकि जैसे संसार जड़, नाशवान् और परिवर्तनशील है, ऐसे ही शरीर भी जड़, नाशवान् और परिवर्तनशील है। जीवको परमात्मासे कभी अलग नहीं कर सकते और शरीरको संसारसे कभी अलग नहीं कर सकते।

परमात्मा उसको कहते हैं, जो अभी हो, सबमें हो, सबका हो, सर्वसमर्थ हो, परम दयालु हो और अद्वितीय हो। अभी होनेके कारण उनकी प्राप्तिके लिये भविष्यकी आशा नहीं करनी पड़ेगी। सबमें होनेसे वह अपनेमें भी है; अतः उनको ढूँढ़नेके लिये कहीं जाना नहीं पड़ेगा। सबका होनेसे वह अपना भी है; अतः उसमें स्वतः प्रेम होगा। सर्वसमर्थ होनेसे हमें भयभीत होनेकी जरूरत नहीं रहेगी। परमदयालु होनेसे हमें निराश होनेकी जरूरत नहीं रहेगी। अद्वितीय होनेसे हमें उसको पहचाननेकी, उसका वर्णन करनेकी जरूरत नहीं रहेगी।

परमात्माकी प्राप्ति न होनेका कारण यही है कि हम उसकी सत्ता और महत्ता स्वीकार नहीं करते और उसको अपना नहीं मानते। अगर हम उसकी सत्ता, महत्ता और अपनेपनको स्वीकार करते तो फिर वह हमें अप्राप्त नहीं

लगता। वह हमें स्वतः प्यारा लगता; क्योंकि परमात्माको अपना माननेके सिवाय प्रेमप्राप्तिका और कोई उपाय है ही नहीं। प्रेम यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत आदि बड़े-बड़े पुण्यकर्मोंसे नहीं मिलता, प्रत्युत भगवान्‌को अपना माननेसे मिलता है। भगवान्‌ने कहा है—**'ममैवांशो जीवलोके'** (१५/७)। इसका तात्पर्य है कि जीव केवल मेरा (भगवान्‌का) ही अंश है, इसमें अन्य किसीका मिश्रण नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि केवल भगवान्‌का ही अंश होनेके कारण हमारा सम्बन्ध केवल भगवान्‌के ही साथ है। जब हम भगवान्‌के ही अंश हैं, तो फिर प्रकृतिका कार्य शरीर अपना कैसे हुआ? अतः भगवान् ही अपने हैं, दूसरा कोई भी अपना नहीं है। भगवान्‌का ही अंश होनेके कारण हम भगवान्‌से अलग नहीं हो सकते, उनको छोड़ नहीं सकते। सर्वसमर्थ भगवान् भी जीवसे अलग नहीं हो सकते, जीवको छोड़ नहीं सकते। अगर भगवान् जीवको छोड़ दें तो जीव एक नया भगवान् हो जायगा अर्थात् भगवान् एक नहीं रहेंगे, प्रत्युत अनेक हो जायँगे, जो कभी सम्भव नहीं है। जिसको हम छोड़ नहीं सकते, उसके विषयमें यह प्रश्न हीं नहीं उठता कि वह कैसा है? अतः भगवान् कैसे हैं, क्या हैं, यह विचार न करके उनमें प्रेम करना चाहिये।

जब मनुष्य संसारके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब वह बँध जाता है और जब परमात्माके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब मुक्त होकर भक्त हो जाता है। मनुष्यसे सबसे बड़ी गलती यह होती है कि जो शरीर संसारका है, उसको अपना मान लेता है और जो वास्तवमें अपना है, उस परमात्माको भूल जाता है। जब साधक इस सत्यको स्वीकार कर लेता है कि शरीर मेरा नहीं है और मेरे लिये भी नहीं है, तब उसके द्वारा स्वतः संसारकी 'सेवा' होती है। जब वह इस सत्यको स्वीकार कर लेता है कि भगवान् मेरे हैं और मेरे लिये हैं, तब उसका स्वतः भगवान्‌में 'प्रेम' होता है। सेवाके बदलेमें साधकको कुछ नहीं चाहिये; क्योंकि संसारकी ही वस्तु संसारको दे दी तो अपना क्या खर्च हुआ? नया उद्योग क्या हुआ? प्रेमके बदलेमें भी उसको कुछ नहीं चाहिये; क्योंकि जो सदासे ही अपना है, उसमें प्रेमसे बढ़कर ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं, जिसकी उसको आवश्यकता हो। प्रभु मेरे लिये हैं, इसलिये अपनेको उनके अर्पित करना है, उनसे कुछ लेना नहीं है। उनसे कुछ चाहनेसे हम उनसे अलग हो जायँगे और अपनेको देनेसे उनसे अभिन्न हो जायँगे।

सेवासे मुक्ति होती है और प्रेमसे पराभक्ति प्राप्त होती है। मुक्तिसे निरपेक्ष जीवनकी और भक्तिसे सरस जीवनकी प्राप्ति हो जाती है।

~~~~
~~~~